रामायण में शरणागति

डा० अशोक कुमार कालिया

लखनऊ

Śaraṇāgati is total surrender to God. The author deals with the concept of 'surrender' as found in the context of the surrender of Vibhīṣaṇa to Rāma in the Yuddhakāṇḍa of *Rāmāyaṇa* and concludes that almost all salient characteristics of the concept of Śaraṇāgati as propounded by the Vaiṣṇava Ācāryas later are existent already in the *Rāmayaṇa*.

शरणागति श्री वैष्णव धर्म और दर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मोक्ष के लिए विहित उपायों के अनुष्ठान में असमर्थ मुमुक्षुओं के लिए इसका विधान किया गया है। न्यास, भरन्यास, संन्यास, निक्षेप, त्याग तथा प्रपत्ति इसी शरणागति की अन्य संज्ञाएँ हैं।[1] असमर्थ, असहाय का परम विश्वास के साथ किसी समर्थ के संरक्षण में जाना ही—अपनी रक्षा का भार सौंप देना ही, शरणागति का अभिप्राय है। शास्त्रों में इसी अर्थ का विस्तार किया गया है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय में वेद मन्त्र के समान ही शरणागति का प्रतिपादन करने वाली गीता की इस उक्ति को महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक माना गया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[2]

शरणागति के लिए कुछ पूर्वापेक्षाएं भी हैं। इन्हीं अपेक्षाओं को शरणागति की विधाएं अथवा अंग कहा गया है। यही कारण है, षडंग अथवा षड्विधा शरणागति कही जाती है। इन छहों अंगों अथवा विधाओं को एक स्थान पर इन शब्दों में बताया गया है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।[3]

अर्थात्

(१) आनुकूल्य संकल्प
(२) प्रातिकूल्यवर्जन,

१—द्रष्टव्य—निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि।।
—लक्ष्मतन्त्र, १७।७५

२—गीता, १८।६६

३—लक्ष्मीतन्त्र, १७।५९-६१

(३) रक्षा में विश्वास,
(४) रक्षक के रूप में वरण,
(५) आत्मनिक्षेप, तथा
(६) कार्पण्य
ये शरणागति के छह अंग हैं।

शरणागति का महत्त्व :

यों तो मोक्ष के अनेक उपाय हैं, किन्तु भक्ति तथा शरणागति का उनमें सर्वोपरि स्थान है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय का स्वरूप भक्ति अथवा शरणागति के सिद्धान्त में ही परिलक्षित होता है। इन दोनों में भी शरणागति को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। मोक्ष के अन्य तीन उपाय हैं—१. कर्म, २. ज्ञान तथा ३. भक्ति। ये तीनों उपाय चतुर्थ शरणागति नामक उपाय के समक्ष महत्त्वहीन हैं। अन्य तीनों उपाय समय-सहिष्णु तथा दुष्कर हैं जबकि शरणागति नामक उपाय शीघ्र फलप्रद तथा सुकर है।[4] भक्ति के अधिकारी वे हैं जो त्रैवर्णिक हैं—अर्थात् ब्राह्मण, अथवा क्षत्रिय, अथवा वैश्य हैं, जो मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया में होने वाले विलम्ब को सह सकते हैं। प्रारब्ध कर्मफलों के भोग के बाद ही मोक्ष सम्भव होता है। इसी कारण भक्ति नामक उपाय को विलम्ब-सहिष्णु कहा गया है। इसके अतिरिक्त भक्ति-योग के अधिकारी वे हैं जिनकी अन्य उपायों के अनुष्ठान में सामर्थ्य है। भक्तियोग असमर्थों के लिए मोक्ष का साधन नहीं बन सकता। इस प्रकार भक्ति योग में जो मुमुक्षु अधिकृत नहीं हैं, उन्हीं का शरणागति में अधिकार है। अर्थात् जो त्रैवर्णिक नहीं है—शूद्र हैं, भक्तियोग के अनुष्ठान में असमर्थ हैं, और प्रारब्ध कर्मफल के भोग के पूर्व ही मोक्ष पाना चाहते हैं—इतना विलम्ब नहीं सह सकते, वे शरणागति के अधिकारी हैं। इसी कारण शरणागति को सुकर उपाय कहा गया है। वस्तुतः यह उपाय जितना सुकर है उतना दुष्कर भी है।[5] शरणागति के लिए जिन पांच पूर्वापेक्षाओं अथवा पांच अंगों का उल्लेख किया गया है, वे ही शरणागति को दुष्कर बना देते हैं। ये ऐसी अपेक्षाएं हैं जिनकी पूर्ति सभी नहीं कर सकते। महाविश्वास आदि के एक बार भी खण्डित हो जाने पर शरणागति खण्डित हो जाती है। इस कारण एक दृष्टि से यदि शरणागति भक्तियोग की अपेक्षा सुकर है तो दूसरी दृष्टि से दुष्कर भी है।

इस प्रकार यद्यपि श्रीवैष्णव धर्म के अन्तर्गत मोक्ष के अन्य उपायों का भी प्रतिपादन किया गया है किन्तु अन्ततोगत्वा सारा बल शरणागति पर ही आता है।

४—उपायोऽयं चतुर्थस्ते प्रोक्तः शीघ्रफलप्रदः।
लक्ष्मीतन्त्र, १७।७६

५—उपायः सुकरः सोऽयं दुष्करश्च मतो मम।
लक्ष्मीतन्त्र, १७।१०५

शरणागति का लक्षण :

अनन्यसाध्ये स्वाऽभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायाच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः।।[6]

अर्थात् अपने अभीष्ट के अनन्यसाध्य होने पर—अन्य उपायों से साध्य न होने पर, महाविश्वासपूर्वक उसी के उपाय बनने की याचना को प्रपत्ति अथवा शरणागति कहते हैं। आचार्य वेदान्तदेशिक ने इसी के आधार पर शरणागति का निर्दोष लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

अनन्यसाध्यस्वाभीष्टसाधनसमर्थवशीकरणं शरणागतिः।[7]

तात्पर्य यह है कि उपाय और फल दोनों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना शरणागति है। शास्त्रों में यही बात विविध रूपों में प्रस्तुत की गयी है।

रामायण में संज्ञा-विचार :

रामायण में विषय की दृष्टि से शरणागति का विवेचन करने के पूर्व इस ग्रन्थ की संज्ञा पर विचार करना इस दृष्टि से आवश्यक है कि इस प्रकार से इस ग्रन्थ का श्रीवैष्णव धर्म के निकट होना सिद्ध होता है। इस दृष्टि से प्रतिवादिभयंकर अण्णंगराचार्य ने **वैदिकमनोहरा** (जुलाई, १९७३) नामक पत्रिका में विचार किया है। यह ग्रन्थ तीन नामों से प्रसिद्ध है—(१) **रामायणम्**, (२) **श्रीरामायणम्**, (३) **श्रीमद्रामायणम्**। इनमें श्रीविरहित **रामायण** के विषय में अण्णंगराचार्य जी की कोई विवक्षा नहीं है। अन्य दोनों की उन्होंने अच्छी मीमांसा की है।

"रामस्य अयनं रामायणम्"—अर्थात् रामकथा, यह व्युत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। पूज्यता बताने के लिए श्री अथवा श्रीमत् शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। परम्परानुसार इस ग्रन्थ में रामकथा के समान ही सीताकथा की भी प्रधानता है। यथा—

'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे'[8]

अथवा—

'इतिहासश्रेष्ठेन श्रीरामायणेन लंकारुद्धवैदेहीवैभवमुच्यते।[9] अथवा महर्षि वाल्मीकि के ही शब्दों में—

"काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्[10]

६—**प्रपन्नपारिजात**, स्वरूपपद्धति में उदाहृत, २
७—**निक्षेपरक्षा**, पृ० २८ (वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला-काञ्चीपुरम्)
८—**श्रीगुणरत्नकोश** से **वैदिकमनोहरा** (जुलाई, १९७३), पृ० १, पर उदाहृत
९—**श्रीवचनभूषण** से **वैदिकमनोहरा** (जुलाई, ७३), पृ० १, पर उदाहृत
१०—**रामायण** (रा०) बाल०, ४/७

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ रत्न में सीता तथा राम दोनों की कथा का, दोनों के चरित्र का प्रतिपादन किया गया है। ऐसा मान लेने पर **श्रीरामायणम्** यह प्रयोग ही उचित सिद्ध होता है। व्युत्पत्ति इस प्रकार से होगी—

"श्रीश्च रामश्च श्रीरामौ, तयोः अयनं श्रीरामायणम्"

"श्रीमद्रामायणम्" का अर्थ होगा श्रीविशिष्ट राम की कथा। इस स्थिति में श्री विशेषण और राम विशेष्य हो जाते हैं। विशेषण अप्रधान तथा विशेष्य प्रधान होता है। **श्रीमद्रामायणम्** कहने से विशेषण सीता अप्रधान हो जाती है तथा विशेष्य राम प्रधान हो जाते हैं। जब कि यह कहा जा चुका है कि **रामायण** में राम और सीता दोनों का चरित्र समान रूप से प्रतिपादित है। इस कारण **श्रीरामायणम्** यही प्रयोग साधुतर है।

किन्तु यदि **श्रीमद्रामायणम्** यही प्रयोग मानना है तो व्युत्पत्ति इस प्रकार माननी होगी—

"रामाया अयनं रामायणम्"

रामा अर्थात् सीता की कथा या सीता का चरित्र। श्रीमत् पद ग्रन्थ का विशेषण है।[11]

साम्प्रदायिक दृष्टि से भी **"श्रीमद्रामायणम्"** इस संज्ञा में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। लक्ष्मी को विशेषण तथा भगवान् विशेष्य माना भी गया है। इस सन्दर्भ में श्रीकुमारवरदाचार्य की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"अत्रोपायभूतस्य भगवतो विशेषणत्वेन पूर्वमपि पुरुषकारभूतायालक्ष्म्याः स्वीकारे नोपायद्वित्वप्रसंगः। विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपभेदेऽपि विशिष्टस्यैकत्वात्। विशेष्यस्यैव प्रधानत्वाच्च।[12]

यदि यह कहा जाय कि राम और सीता दोनों की कथा इस ग्रन्थ में है, इस कारण द्वन्द्व समास ही अभीष्ट है, तो प्रश्न उठता है कि क्या राम-कथा की उपेक्षा करके सीता-कथा हो सकती है, अथवा सीताकथा की उपेक्षा करके राम-कथा हो सकती है? स्पष्ट है, नहीं हो सकती है। क्योंकि दोनों की एक ही कथा है। इसलिए **श्रीरामायणम्** तथा **श्रीमद्रामायणम्** दोनों ही नाम सुन्दर हैं तथा सम्प्रदाय-संगत हैं।

११—द्रष्टव्य, **वैदिकमनोहरा** (जुलाई, ७३) में श्री अण्णंगाराचार्य का निबन्ध पृ० १-३

१२—**श्रीमद्रहस्यत्रयसारार्थसंग्रह**, द्वयाधिकार, पृ० १६

वैसे लगता तो यही है कि ग्रन्थ का वास्तविक नाम **रामायणम्** (रामस्य अयनमिति) है, तथा परम्परानुसार पूज्यता व्यक्त करने के उद्देश्य से "श्री" तथा "श्रीमत्" पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। यहाँ, यह बात अवश्य ध्यातव्य है कि ये पद राम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं किये गये हैं, **रामायण** संज्ञक ग्रन्थ के विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त किये गये हैं। उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का **रामायण** के प्रति क्या दृष्टिकोण है।

रामायण में शरणागति :

यद्यपि **रामायण** किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध ग्रन्थ नहीं है, तथापि प्रसंगतः इसमें शरणागति का विवेचन हुआ है। युद्धकाण्ड में राम के प्रति की गयी विभीषण की शरणागति का वर्णन है। विभीषण ने न्यायमार्ग का अवलम्बन लेते हुए रावण को परामर्श दिया कि वह सीता को राम के प्रति सौंप दे, किन्तु इसके उत्तर में रावण ने विभीषण को कठोर वचनों के साथ अपमानित किया।[13] इस प्रकार विभीषण राम की शरण में आया —

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्।।[14]

सुग्रीव, अंगद, शरभ, जाम्बवान् तथा मन्द ने विभीषण के व्यवहार पर सन्देह किया, उसे रावण का गुप्तचर समझा, तथा राम को यह परामर्श दिया कि विभीषण की सत्यता के परिज्ञान के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जायँ। हनुमान् का मत इनसे भिन्न था। हनुमान् का कहना था कि यह विभीषण राम के पराक्रम तथा रावण के मिथ्याचरण को अच्छी प्रकार देखकर, बालि के बध तथा सुग्रीव के अभिषेक को सुनकर राज्य प्राप्ति की इच्छा से सोच-समझ कर यहाँ आया है। इसलिए इस विभीषण को स्वीकार करना चाहिए।[15]

यही वह स्थल है जहाँ शरणागति का स्वल्प किन्तु महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। अब सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि शरण में आने वाले के गुण अथवा दोष का विचार करना चाहिए अथवा नहीं। हनुमान् की बात का समर्थन करते हुए राम ने जब कहा कि मित्र भाव से प्राप्त हुए विभीषण को मैं त्याग नहीं सकता, भले ही वह दुष्ट क्यों न हो,[16] सुग्रीव का तर्क नीति की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है—

१३—सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ **रा० युद्धकाण्ड** (यु०), १७/१६ (गीता प्रेस संस्करण)

१४—**रा० यु०**, १७/१७

१५—**रा० यु०** १७/६६,६७

१६—मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥ **रा० यु०** १८/३

स दुष्टो वाऽप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः।
ईदृशं व्यसनं प्राप्तं भ्रातरं यः परित्यजेत्।
को नाम स भवेत् तस्य यमेष न परित्यजेत्।[17]

राक्षस की सदोषता अथवा निर्दोषता से क्या प्रयोजन। प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति संकटग्रस्त अपने भाई का परित्याग कर सकता है वह किसका परित्याग नहीं कर सकता। जितना सुन्दर सुग्रीव का तर्क है, उतनी ही सुन्दर राम के द्वारा की गयी विभीषण के व्यवहार की मीमांसा है।[18] इस प्रकार आदिकाव्य में शरणागति की यह संक्षिप्त पूर्वपीठिका है।

रामायण में शरणागति-विधि :

शरणागति के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या शरणागति की प्रतिपादक कोई विधि नहीं है ? श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इस प्रश्न का अनेक उदाहरणों के साथ सप्रमाण उत्तर दिया गया है। इसी सन्दर्भ में **रामायण** की भी सहायता ली गयी है। विभीषण की शरणागति के विषय में राम ने अपना संकल्प इस प्रकार प्रकट किया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥[19]

अर्थात् जो एक बार भी शरण में आकर है, "मैं आपका हूं" ऐसा निवेदन करता है उसे मैं सभी प्राणियों से अभय प्रदान करता हूं, ऐसा मेरा व्रत है। इन शब्दों का श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में बड़ा महत्त्व है। प्रश्न है— क्या इन शब्दों को शरणागति-विधि नहीं माना जा सकता है ? वेदान्तदेशिक पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"सकृदेव प्रपन्नाय" इस सर्वलोकशरण्य भगवान् राम के ही वाक्य से प्रपत्तिविधि को सिद्ध मानना उचित नहीं क्योंकि वहाँ भी "अभयकामी मेरी शरण आये" इस प्रकार की विधि दिखायी नहीं देती। यदि यह कहा जाय कि वाक्य के तात्पर्य से ऐसा ज्ञात होता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि राम के गुण-विशेष का प्रतिपादन मात्र ही इस वाक्य का तात्पर्य है। यदि यह कहा जाय कि गुण-विशेष में वाक्य का तात्पर्य होने पर भी श्रोताओं के लिए इस उक्ति का कर्तव्यविशेष के उपदेश में प्रयोजन होने के कारण श्रुतार्थापत्ति से गतिविधि सिद्ध होती है तो भी उचित नहीं। प्रपन्न राम के द्वारा अपरित्याज्य है अतः ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए इतना मात्र सिद्ध होने से धर्म रूप से प्रपत्ति की करणीयता में कोई प्रमाण नहीं है। यह कहना भी संगत नहीं कि यह प्रपन्न का परित्याग नहीं करता

१७—रा० यु०, १८/५-६
१८—रा० यु०, १८/१०/१५।
१९—रा० यु० १८/३३

ऐसा सिद्ध हो जाने पर अर्थतः प्रपत्तिकर्तव्यता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, यह मान लेने पर भी कि मनुष्य शरीरधारी क्षात्र-धर्म का अभिनय करने वाले भगवान् के उस प्रकार के स्वभाव का निर्णय हो जाने पर उस समय के लोगों के लिए उनका ईश्वरत्व है, उनके प्रति की गयी शरणागति अविद्वानों की ही सिद्ध होगी। ईश्वर के याथात्म्य को जानने वाले मुमुक्षुओं के लिए अपवर्ग के अव्यवहित साधन के रूप में प्रपत्ति की करणीयता में कोई प्रमाण नहीं है तो रामादि अवतारों में याथात्म्य-ज्ञान रहितों के लिए ही इष्ट सिध्यर्थ प्रपत्ति मान ली जाय, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मानुष भावना में इस समय प्रपत्ति नहीं हो सकती, किसी प्रकार देवतात्व की भावना की जाय तो भी उक्त दोष बना रहता है।[20]

एवम् प्रपत्ति विधि नहीं बन सकती, इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के अनन्तर वेदान्तदेशिक सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि "सकृदेव प्रपन्नाय" यह वाक्य वस्तुतः शरणागति विधि का ही प्रतिपादन करता है—

"सकृदेव प्रपन्नायेत्यत्रापि प्रपदनविध्यभावेऽपि अभयप्राप्तिकामो मां प्रपद्येतेति वाक्यतात्पर्यस्य सिद्धत्वात् रामगुणविशेषप्रतिपादनपरत्वेऽपि वाक्यस्य गुणविशेषश्रुत्यर्थापत्त्यैव प्रपदनीयत्वसिद्धचा प्रपत्तिसिद्धेः। तस्यैव गुणस्य शास्त्रान्तरैः—

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥

इत्यादितत्रत्यवचनबलाच्च परव्यूहविभवादिसर्वावस्थासाधारणत्वात् सर्वदा सर्वैः प्रपदनत्वस्यापि सिद्धौ सिद्धं भगवत्प्रपदनविधावेव सकृदेवेत्यादितात्पर्यम्।[21]

अर्थात् "सकृदेव प्रपन्नाय" इस वाक्य में प्रपत्तिविधि न होने पर भी अभयकामी मेरी शरण आये यही वाक्य का तात्पर्य है। राम के गुण विशेष का प्रतिपादन होने पर भी गुण-विशेष के श्रवण की अर्थापत्ति से राम के शरण्य सिद्ध होने से शरणागति की सिद्धि होती है। यही गुण शास्त्रों में भी प्रतिपादित है। इस प्रकार "सकृदेव..." इस श्लोक के द्वारा शरणागति-विधि की सिद्धि होती है।

शरणागति की सकृत् करणीयता—

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"[22] "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"[23] "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"[24] 'यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'[25] इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित ब्रह्म की प्राप्ति की

२०—निक्षेपरक्षा, पृ०११ (काञ्चीपुर संस्करण)
२१—निक्षेपरक्षा, पृ० ३०
२२—तै० उ० १
२३—श्वे० उ० ३।८
२४—मु० उ० ३।२।९
२५—मु० उ० ३।१।३

साधनभूत ब्रह्मविद्या सकृत् करणीय है अथवा असकृत् ? इस प्रश्न का उत्तर बादरायण ने अपने सूत्र "आवृत्तिसकृदुपदेशात्"[26] के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है। ब्रह्मविद्या बारम्बार आवृत्ति करने पर ही फलवती होती है और यह आवृत्ति मरणपर्यन्त की जानी चाहिए। यही विषय "आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम्"[27] सूत्र में बादरायण ने प्रतिपादित किया है। शरणागति भी ब्रह्मविद्या है। इसलिए यह शंका होती है कि शरणागति यदि एक ही बार की जाय तो फलप्रद नहीं होगी। इसकी भी आवृत्ति अन्य ब्रह्मविद्याओं के समान होनी चाहिए। यहाँ इस प्रश्न के उत्तर में यह ध्यातव्य है कि यद्यपि शरणागति ब्रह्मविद्या है तथापि अन्य ब्रह्मविद्याओं के समान शरणागति की आवृत्ति अपेक्षित नहीं है। एक ही बार की गयी शरणागति फलप्रद होती है। यही शरणागति की सबसे बड़ी विशेषता है।

पाञ्चरात्र आगमों में जहाँ शरणागति का स्वरूप आदि विषय विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है, वहीं यह बतलाया गया है कि सकृत् की गयी शरणागति फल-प्रद होती है। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में—

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्।
उपायापायसंयोगे निष्ठया हीयतेऽनया ॥[28]

यदि किसी कारणवश सकृत् की गयी शरणागति खण्डित हो जाय तो प्रायश्चित का विधान है और वह प्रायश्चित है पुनः शरणागति—

अपायसंप्लवे सद्यः प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
प्रायश्चित्तिरियं सात्र यत्पुनः शरणं श्रयेत्॥[29]

इसी विश्वास से प्रेरित होकर श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिक अपने ग्रन्थ न्यासतिलक में श्रीरंगनाथ भगवान् के अभयमुद्रा से युक्त दक्षिणहस्त से रक्षा की याचना करते हैं जो मानो बारम्बार की जाने वाली शरणागति का निषेध कर रहा है—

प्रायः प्रपदने पुंसां पौनःपुन्यं निवारयन्।
हस्तः श्रीरंगभर्तुर्मामव्यादभयमुद्रितः[30]॥

२६—ब्र० सू० ४।१।१
२७—वही, ४।१।१२
२८—लक्ष्मीतन्त्र, १७।९२
२९—वही, १७।९३
३०—न्यासतिलक, २.

इस परिप्रेक्ष्य में **रामायण** का उक्त श्लोक विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है, जो एक ही बार की प्रपत्ति को पर्याप्त बताता है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥[31]

शरणागति की सकृत् करणीयता में **रामायण** का यह वचन श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है तथा इस सम्प्रदाय के मानने वालों के लिए यह वचन सदैव प्रेरणा का स्रोत रहा है। इसी विश्वास के कारण तो वैष्णव आचार्यों में प्रमुख श्री यामुनाचार्य भगवान् को उपालम्भ देते हैं—

ननु प्रपन्नस्सकृदेव नाथ तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिदं व्रतं ते ॥[32]

आपका व्रत है कि जो आपकी शरण में एक बार आता है तथा "मैं आपका हूं" ऐसी याचना करता है वह आपकी अनुकम्पा का पात्र बन जाता है। आचार्य को यहाँ पर आपत्ति यह है कि वह भी तो इसी प्रकार शरण में आये हैं किन्तु भगवान् की कृपा के पात्र नहीं बन सके। यह कैसा व्रत है ?

स्पष्ट है कि इस श्लोक में यामुनाचार्य ने भगवान् राम की **'सकृदेव प्रपन्नाय'** प्रतिज्ञा की ओर संकेत किया है।

रामायण में साङ्ग शरणागति :

शरणागति के छः अंगों का निर्देश आरम्भ में किया जा चुका है। विभीषण के द्वारा की गयी राम के प्रति शरणागति इन सभी अंगों से युक्त है, पूर्ण है—

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः ॥[33]

यहाँ "दुराचारी रावण" इस कथन से राम के प्रति आनुकूल्यसंकल्प और प्रातिकूल्यवर्जन नामक शरणागति के अंगों का बोध होता है। 'तस्याहमनुजो भ्राता' उस दुराचारी रावण का अनुज होने के कारण अपने भी दोषी होने का कथन करने के कारण गर्वहानि रूप कार्पण्य नामक शरणागति के अंग का प्रतिपादन है।[34]

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥[35]

३१—रा० यु०, १८।३३
३२—**स्तोत्ररत्न**, ६४
३३—रा० यु०, १७।१२
३४—द्रष्टव्य रा० यु० तिलकटीका, १७।१२, (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९१९)
३५—रा० यु०, १७।१६

यहाँ 'राघवं शरणं गतः' इस कथन के द्वारा आत्मनिक्षेप नामक शरणागति के अंग का प्रतिपादन किया गया है।[36]

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥[37]

इस श्लोक में गोप्तृत्ववरण तथा महाविश्वास संज्ञक शरणागति के अंगों का प्रतिपादन है।[38]

रामायण की गोविन्दराजीय टीका के अनुसार यहां तक वाचिक शरणागति का प्रतिपादन है। इसके अनन्तर कायिक शरणागति का प्रतिपादन किया गया है।

स तु रामस्य 'धर्मात्मा निपपात विभीषणः।
पादयोर्निपपाताथ चतुर्भिः सह राक्षसैः॥[39]

यहां 'स तु' के द्वारा आनुकूल्य-संकल्प और प्रातिकूल्य-वर्जन, धर्मात्मा के द्वारा महाविश्वास, शरणान्वेषी होने के कारण गोप्तृत्ववरण, तथा 'पपात' के द्वारा आत्मनिक्षेप नामक शरणागति के अंगों का प्रतिपादन है। इस प्रकार इस श्लोक में विभीषण के द्वारा की गयी कायिक शरणागति का उल्लेख किया गया है।[40]

प्रणतार्तिहरत्व और आश्रितवत्सलत्व :

यह शरणागति के समानान्तर भगवान् के विशेष गुण हैं। रामानुज ने **श्रीरंगगद्य** में भगवान् के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया है—

"...प्रणतार्तिहर, आश्रितवात्सल्यैकमहोदधे,"[41]

"शरण में आये हुए के सभी दोषों-अपराधों को भुलाकर उसकी रक्षा करना" यह भगवान् का विशेष गुण है। इसी गुण की ओर रामानुज ने **श्रीभाष्य** के प्रथम श्लोक में संकेत किया है—

विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे।[42]

३६—रा० यु०, तिलक टीका १७।१६
३७—रा० यु०, १७।१७
३८—रा०, यु०, तिलक टीका, १७।१७
३९—रा० यु०, १९।२, ३
४०—तत्रानुकूल्यसंकल्पप्रातिकूल्यवर्जनवत्त्वमुक्तम्। धर्मात्मेति। महाविश्वासः शरणान्वेषीति गोप्तृत्ववरणं पपातेत्यात्मनिक्षेप इति सांगशरणागतिः कृता भवेत्। रा०, यु०, गोविन्दराजीय टीका, १९।२,३
४१—**श्रीरंगगद्य**, ७
४२—**श्रीभाष्य**, १

वेदान्तदेशिक के शब्दों में—

शरणागतरक्षणैकदीक्षः समये तत्परिपन्थिनो निरुन्धन्।
प्रभुरायतते परः कृपायां सचिवास्तस्य च सर्व एव देवाः॥[43]

अर्थात् जिसका शरणागत की रक्षा ही एक मात्र संकल्प है, ऐसा सर्वेश्वर उचित अवसर पर शरणविरोधियों का निराकरण करता हुआ कृपा-परतन्त्र हो जाता है। सभी देवता उसके सचिव होते हैं।

रामायण में भगवान राम ने शरण में आये हुए के प्रति शरण्य का क्या कर्तव्य होता है—इस विषय का सप्रमाण विवेचन किया है।

शरण में आये हुए विभीषण के विषय में सुग्रीव आदि ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये। सुग्रीव ने कहा कि यह अत्यन्त क्रूर रावण का अनुज है इसलिए सचिवों सहित इसका वध कर देना चाहिए"—वध्यतामेषः"[44]

जाम्बवान् ने कहा कि विभीषण का आगमन अदेशकाल में हुआ है। इस कारण यह सर्वथा शंकनीय है—"शंक्यतामयम्"।[45] हनुमान ने सारी स्थिति का विवेचन करके यह मत व्यक्त किया कि विभीषण के आने में किसी प्रकार का छल नहीं है। इसलिए इसे स्वीकार कर लेना चाहिए—"युज्यते तस्य संग्रहः"।[46]

इन सारे मतों को सुनकर तथा विचार करके राम ने युक्ति और प्रमाणों के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि शरणागत की रक्षा करनी ही चाहिए। शत्रु भी यदि शरण में आये तो उसकी रक्षा करना ही धर्म है—यह बात राम ने कपोत के दृष्टान्त के माध्यम से प्रतिपादित की—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहन्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥[47]

तात्पर्य यह है कि कपोत तो अकेला था—असहाय था तथा पक्षी था, राम तो ऐसे नहीं हैं। वह तो पुरुषश्रेष्ठ हैं तथा उनके अनेक सहायक भी हैं। कपोत का शत्रु व्याध

४३—संकल्पसूर्योदय, १०।१३
४४—रा०, यु०, १७।२९
४५—रा० यु०, १७।४६
४६—रा० यु०, १७।६७
४७—रा० यु०, १८।२४, २५

उसकी शरण में आया था, जिसने उसकी भार्या का वध किया था, विभीषण तो शत्रु नहीं मित्रभाव से शरण में आया है। कपोत ने धर्मबुद्धि से यदि ऐसे व्याध को शरण दी तो राम जैसे महापुरुष के लिए विभीषण जैसे निर्दोष व्यक्ति को शरण न देने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अनन्तर कण्डु की गाथा के माध्यम से राम ने यही प्रमाणित किया है—

ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा।
शृणु गाथा पुरा गीता धर्मिष्ठा सत्यवादिना ।।
बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप।।
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना।।
स चेद् भयाद् वा मोहाद् वा कामाद् वापि न रक्षति।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत् पापं लोकगर्हितम्।।
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आनीय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ।।[48]

अर्थात् महर्षि कण्व के पुत्र महर्षि कण्डु ने प्राचीन काल में यह गाथा कही थी— यदि शत्रु भी शरण में आये और अञ्जलि बांधकर दया की याचना करे तो उसका वध नहीं करना चाहिए। शरण में आया हुआ शत्रु यदि आर्त हो अथवा दृप्त, उसकी रक्षा अपने प्राणों का परित्याग करके भी करनी चाहिए। यदि वह किसी भय, मोह, अथवा काम के कारण उसकी रक्षा अपनी शक्ति के अनुसार नहीं करता तो यह लोक-निन्दित पाप है। यदि शरणागत रक्षक के देखते हुए नष्ट हो जाय तो वह अरक्षित उस रक्षक के सारे पुण्यों को लेकर जाता है। इसके आधार पर राम का निष्कर्ष है—

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्।"[49]

इन सारी बातों को ध्यान में रखकर राम का संकल्प है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।[50]

गोविन्दराजीय टीका का कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है। **याज्ञवल्क्यस्मृति** में धर्म के प्रमाण गिनाये गये हैं—

श्रुतिस्मृतिसदाचाराः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ।।[51]

४८—रा० यु०, १८।३६। ३०
४९—रा० यु०, १८।३१
५०—रा० यु०, १८।३३
५१—१।७

टीका का कथन है कि इन प्रमाणों के आधार पर प्रमाणित होता है कि शरणागत-परित्राण ही धर्म है—

"वध्यं प्रपन्नं प्रतियच्छन्तीत्यादिना श्रुतिः। कण्डुगाथामुखेन स्मृतिः। कपोतादिना शिष्टाचारः। प्रतिपक्षनिरसनपूर्वकबलवदुपपादनेन स्वप्रियत्वं चैत्येवं चतुर्षु प्रमाणेषु प्रपन्नरक्षणरूपपरमधर्मविषयेषु दर्शितेषु सम्प्रति तत्र प्रमाणं पञ्चमं दर्शयति—सकृदेवेति।"[52]

"वध्यं प्रपन्नं प्रतियच्छन्ति" इस प्रकार प्रथम श्रुतिप्रमाण, कण्डुगाथा के द्वारा द्वितीय स्मृति प्रमाण, कपोत वृतान्त के द्वारा सदाचार, प्रतिपक्ष के निराकरण के द्वारा स्वप्रियत्व, तथा सकृदेव इस प्रकार पांचवें प्रमाण (समीचीन संकल्प के द्वारा धर्मचिकीर्षा) के द्वारा **रामायण** में भगवान् राम ने यह प्रतिपादित किया है कि शरणागत की रक्षा करना परम-धर्म है। इस प्रकार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में भगवान् को जो प्रणतार्तिहर तथा शरणागतवत्सल कहा जाता है, उसकी **रामायण** में बड़ी सुन्दर व्याख्या की गयी है।

शरणागत के आर्त और दृप्त भेद—

प्रपन्न के दो भेद होते हैं—आर्त और दृप्त। दृप्त प्रपन्न वह है जो वर्तमान देह रहे किन्तु अगला जन्म न हो ऐसा सोचता है। आर्त प्रपन्न वह है जो वर्तमान देह के प्रति भी आसक्त नहीं होता। अर्थात् दृप्त प्रपन्न जब तक वर्तमान देह है तब तक मोक्ष की प्राप्ति में विलम्ब सहने को तैयार है किन्तु आर्त प्रपन्न इस प्रकार के किसी विलम्ब को सहने को तैयार नहीं होता। श्री वात्स्य वरदाचार्य ने अपने ग्रन्थ **प्रपन्नपारिजात** में यही बात इन शब्दों में कही है—

यस्य देहान्तरकृते शोको दृप्तः स उच्यते।
यस्तु प्रारब्धदेहेऽपि शोचत्यार्तः स उच्यते॥
आर्तदृप्तविभागेन प्रपत्तिरियमुच्यते।[53]

इस विभाग की ओर भी **रामायण** में इन शब्दों में संकेत किया गया है—

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥[54]

अर्थात् आर्त हो या दृप्त जो शरण में आ गया है वह शत्रु भी क्यों न हो उसकी अपने प्राणों को त्यागकर भी रक्षा करना धर्म है।

इस प्रकार शरणागति का सिद्धान्त, जो श्रीवैष्णव धर्म का सर्वस्व है, **रामायण** में अत्यन्त सुन्दरता के साथ स्वल्प शब्दों में निरूपित हुआ है।

५२—रा० यु०, गोविन्द, १८।३३
५३—स्वरूपपद्धति।
५४—रा० यु० १८।२२